शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जुलाई : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, आषाढ़, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ३

सम्यक्त्वी धर्मात्मा की मुनिभक्ति

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक संत-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक संत भगवान के लिये मैं क्या-क्या करूँ! किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार इन्हें अर्पित हो जाऊँ!!—इसप्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछलने लगता है। और जब ऐसे साधक मुनि उनके आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसंग आये, तब तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे हों.... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया हो... इतनी अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८३]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जिसने ध्रुव-स्वामी को धारण किया....

आत्मा का ध्रुवस्वभाव ही स्वामी है... धर्मी ने अपने ध्रुवस्वभाव को ही स्वामी रूप से धारण किया है... हमारी निर्मल परिणति का नाथ हमारा ध्रुवस्वभाव ही है, अन्य कोई हमारी निर्मल परिणति का नाथ नहीं है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल परिणति का रक्षण और पोषण होता है; इसलिये ध्रुवस्वभाव ही हमारी निर्मल परिणति का रक्षक और पोषक है;—इसप्रकार धर्मात्मा ने ध्रुवस्वभाव को ही अपने स्वामीरक्षक रूप से स्वीकार किया है।

देखो यह स्वामी! अपना ध्रुवस्वभाव ही स्वामी है। जब ध्रुव-स्वामी को धारण कर लिया, तब व्यवहार में भगवान को या गुरु को स्वामी रूप से धारण करना, सो व्यवहार है। यहाँ तो धर्मी कहते हैं कि हमने अंतर्दृष्टि में अपने ध्रुव चिदानन्द स्वभाव को ही स्वामी रूप से स्वीकार किया है; उस ध्रुव-स्वामी में ही ऐसी शक्ति है कि वह हमारे सम्यग्दर्शनादि का रक्षण और पोषण करता है। स्वयं में से ही जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसे बनाये रखता है और जो प्रगट नहीं हुई वह अपने में से देता है;—इसप्रकार हमारा आत्मा स्वयं ही हमारा स्वामी है; वह स्वयं ही हमारी कुशलक्षेम करनेवाला नाथ है।

जिसने अपने श्रद्धा-ज्ञान में ऐसे ध्रुव-स्वामी को धारण किया, उसे फिर जगत का भय या चिन्ता नहीं रहती; वह निर्भय होकर मुक्ति के पथ पर चला जाता है।

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जुलाई : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, आषाढ़, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ३

बंधन से छूटने का उपाय बतलाकर

आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करते हैं।

[श्री समयसार गाथा ६९ से ७२ तक के प्रवचनों का दोहन]

(वीर संवत् २४८५; भाद्रपद कृष्णा १३ से भाद्रपद शुक्ला ६)

''हे भाई! संत तुझे आत्मा का सच्चा भोजन कराते हैं—कि जिसके स्वाद से तुझे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस का अनुभव होगा।—इसलिये एक बार उसका रसास्वादन कर... तथा जगत के अन्य रसों को छोड़!''

अहो! वन में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मुनिवरों ने अमृत बहाया है। विकार के वेग में बहते हुए प्राणियों को सम्बोधकर ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख किया है कि – अरे जीवो! लौटो... लौटो! वह विकार तुम्हारा कार्य नहीं है... तुम्हारा कार्य तो ज्ञान है... विकार के वेग में बहते हुए तुम्हारी तृषा शान्त नहीं होगी... इसलिये उससे विमुख होओ... विमुख होओ! ज्ञान में लीनता से ही तुम्हारी तृषा शान्त होगी, इसलिये ज्ञान की ओर आओ... रे... आओ!

मंगलस्वरूप भेदज्ञानज्योति को नमस्कार हो!

१– समयसार के इस कर्ताकर्म अधिकार में वस्तुस्वरूप का रहस्य और सम्यग्दर्शन की कुंजी है। आचार्यदेव ने इस अधिकार में स्व-पर का तथा स्वभाव और विभाव का स्पष्ट रूप से भेदज्ञान कराया है।

२– आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसका पूर्ण सामर्थ्य विकसित हो जाने पर वह सर्वज्ञ होता है। वे सर्वज्ञ परमेश्वर जगत के ज्ञाता हैं, किन्तु कर्ता नहीं हैं।

३- इस जगत में अनंत जीव तथा अजीव पदार्थ हैं, वे अनादि-अनंत स्वयं सिद्ध सत् हैं, उन पदार्थों का कोई कर्ता नहीं है; प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप हैं; द्रव्य-गुण त्रिकाल हैं; पर्याय प्रतिक्षण नई-नई होती रहती है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य या गुण का कोई कर्ता नहीं है, उसी प्रकार उसकी प्रतिक्षणवर्ती पर्यायों का भी कोई दूसरा कर्ता नहीं है।

४- सर्वज्ञ भगवान जगत के पदार्थों को यथावत् जाननेवाले हैं। वे सर्वज्ञ भी सर्व के मात्र ज्ञाता हैं, किसी के कर्ता या किसी में परिवर्तन करनेवाले नहीं हैं। यदि कोई अपने को पदार्थों का कर्ता या उनमें फेरफार करनेवाला मानता हो तो वह त्रिकालवेत्ता नहीं हो सकता। इस प्रकार जीव का ज्ञानस्वभाव ही है, और पदार्थ स्वतंत्र हैं।

५- जब तक जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता और पर के साथ कर्ताकर्मपना मानता है, तब तक वह अज्ञानी है।

६- भेदज्ञान द्वारा स्व-पर को भिन्न-भिन्न जानकर जब जीव अपने ज्ञानस्वभाव में ही एकतारूप से निर्मलपर्याय के कर्तारूप परिणमित होता है, तब वह ज्ञानी है।

७- रागादि बहिर्भाव मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—ऐसा राग के साथ एकत्वबुद्धि का कर्तृत्व, वह अज्ञानी का कार्य है और अज्ञानी उसका कर्ता है।

८- यानी उस विकार का कर्ता ज्ञानस्वभाव भी नहीं है और जड़-कर्म भी नहीं है; क्षणिक अज्ञानभाव ही उसका कर्ता है। ज्ञानभाव से जीव उसका कर्ता नहीं है।

९- ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी पर का कर्तृत्व तो है ही नहीं; तथा परद्रव्य उनका कर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वयं अपने में ही होता है, अन्य में नहीं होता।

१०- अज्ञानी कर्ता और देहादि की क्रिया उसका कार्य—ऐसा नहीं है; तथा जड़कर्म आदि कर्ता और रागादि उनका कार्य—ऐसा भी नहीं है। आत्मा के कार्य का कर्ता आत्मा और जड़ के कार्य का कर्ता जड़ है।

११- अज्ञानी भले ही माने कि 'मैं देहादि की क्रिया का कर्ता हूँ' तथापि वह कहीं देहादि की क्रिया का कर्ता हो नहीं सकता। देहादि की क्रिया के कर्ता रूप से जड़ पुद्गल स्वयं ही परिणमित होते हैं। अज्ञानी तो उस समय मात्र अज्ञानभाव का ही कर्ता होकर परिणमित होता है। वह अज्ञान ही संसार का मूल है।

१२- कर्ता-कर्म सम्बन्धी वह अज्ञान कैसे दूर हो - उसकी यह बात है। भेदज्ञान द्वारा जीव

जब स्व-पर को भिन्न-भिन्न जानता है, तब स्वद्रव्य में एकता करके वह अपनी सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय के कर्ता रूप से परिणमित होता है और उसके अज्ञान का नाश होता है।

१३- 'मेरा आत्मा एक ज्ञायकस्वभाव ही है।'—ऐसा जब दृष्टि में लिया तब क्षणिक विकारभाव अपने स्वभावरूप से भासित नहीं होते, किन्तु स्वभाव से भिन्नरूप ही भासित होते हैं, इसलिये उस विकार का कर्तृत्व भी नहीं रहता; ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्मल दशा का ही कर्ता होता हुआ, कर्म के साथ के सम्बन्ध का नाश करके वह जीव सिद्धपद प्राप्त करता है।

—यह बात आचार्यदेव कर्ताकर्म अधिकार में समझाते हैं।

१४- मंगलाचरण में सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करते हैं:—

कर्ताकर्म विभाव का मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिव में वसे, नमूं तेह मद खोय।

अनादिकालीन अज्ञान से उत्पन्न कर्ताकर्म के विभाव को दूर करके जो ज्ञानमय हुए और कर्मों का नाश करके सिद्धालय में वास किया, उन सिद्ध भगवन्तों को मैं मदरहित होकर नमस्कार करता हूँ।—इसप्रकार कर्ताकर्म अधिकार के मंगलाचरण में सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है। अत्यन्त विनय से तथा पर के कर्तृत्व के अभिमान को छोड़कर, सिद्ध-भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।

१५- भाई! यह मनुष्य देह सदा नहीं रहेगी; क्षण में नष्ट हो जायेगी... भेदज्ञान करके अपने आत्मा को सँभाल! उसके सिवा तुझे कोई शरणभूत नहीं होगा। जिस पर का तू कर्तृत्व मानता है, वह कोई तुझे शरणभूत नहीं होगा; पर से भिन्न ऐसा अपना चैतन्यतत्त्व ही तुझे शरणभूत है; उसे तू जान!

१६- इस संसाररूपी नाटक के रंगमंच पर जीव और अजीव संयोगरूप से एकाकार दृष्टिगोचर होते हैं; अनेक प्रकार के स्वांग से मानों वे एक-दूसरे के कर्ता-कर्म हों, ऐसे लगते हैं—वहाँ अज्ञानी को उन दोनों के बीच का भेद दिखाई नहीं देता, किन्तु ज्ञानी अपने भेदज्ञान के बल से उन दोनों को भिन्न-भिन्न जान लेता है और भिन्न-भिन्न ज्ञात होने पर वे पृथक् हो जाते हैं।

१७- देवकी माता के छह पुत्र (तीन युगल) मुनि हुए हैं। छहों मुनि चैतन्य के ज्ञानध्यान में लीन मानों चलते-फिरते सिद्ध हों—ऐसे लगते हैं! छहों का अति सुन्दर रूप-रंग एक-सा है। एक बार दो-दो मुनि क्रमशः देवकी माता के यहाँ आहार लेने आते हैं। उन्हें देखकर देवकी माता को

आश्चर्य होता है और पुत्रवत् वात्सल्य उमड़ आता है। वे मन ही मन विचार करती हैं कि—रे, वे ही मुनि पुनः पुनः तीन बार मेरे यहाँ क्यों पधारे! और मुझे उनके प्रति क्यों इतना स्नेह जागृत हो रहा है! मेरे कृष्ण समान छह-छह पुत्रों को जन्म देने वाली महाभाग्यवान माता इस जगत में कौन है!—फिर तो भगवान नेमिनाथ के श्रीमुख से वे छहों मुनियों का वृत्तान्त सुनती हैं कि वे ही मुनि तीन बार नहीं आये थे किन्तु तीनों बार अलग-अलग मुनि थे, और वे स्वयं ही उन छह मुनिवरों की माता थीं! तब वे हर्षित होती हैं। देखो, देवकी ने छह अलग-अलग पुत्रों को भी अलग नहीं जाना और छहों पुत्र अपने होने पर भी पराये मालूम हुए।

—उसी प्रकार इस जगत में छह मुनियों की भाँति छह द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं; किसी को किसी के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है; किन्तु अज्ञानी जीव, मोह से स्व-पर को एकमेकरूप मानता है और पर के साथ कर्ताकर्म की बुद्धि से वह अपनी प्रजा (-पर्याय) को पर की मानता है, इसलिये दुःखी होता है। भगवान की वाणी द्वारा स्व-पर को भिन्न-भिन्न जानकर भेदज्ञान करते ही उसे स्वद्रव्य के अनुभव से अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित होता है।

१८- 'सुदृष्टि तरंगिणी' में छह द्रव्यों की भिन्नता संबंधी छह मुनियों का सुन्दर दृष्टान्त दिया है—जिसप्रकार एक गुफा में छह मुनिराज चिरकाल से रहते हैं; किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, उदासीनतासहित एक क्षेत्र में रहते हैं; उसीप्रकार छह द्रव्य एक लोकक्षेत्र में जानना। इस जगत -रूपी गुफा में जीवादि छह द्रव्य अनादि काल से अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। एक ही स्थान पर उनकी स्थिति होने पर भी वे एक-दूसरे में मिल नहीं जाते। ऐसा ही अनादि व्यवहार है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ एकमेक नहीं हो जाता, किसी के गुण अन्य द्रव्य के गुणों में एकमेक नहीं हो जाते तथा किसी की पर्याय अन्य की पर्याय के साथ एकमेक नहीं हो जाती।—ऐसी ही उदासीन वृत्ति है। वस्तु का ऐसा स्वभाव यहाँ छह वीतरागी मुनियों के दृष्टान्त से समझाया है। एक गुफा में छह वीतरागी मुनि रहते हैं, छहों मुनि अपनी-अपनी स्वरूप साधना में लीन हैं, किसी को किसी के प्रति मोह नहीं है, वहाँ मुनि एक-दूसरे से निरपेक्ष रूप से स्वरूप साधना में ही लीन हैं; उसीप्रकार इस लोकरूपी गुफा में छहों द्रव्य वीतरागी मुनियों की भाँति एक-दूसरे से निरपेक्ष रूप से स्थित हैं; कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता; सब अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही स्थित हैं।

१९- ऐसा निरपेक्ष वस्तुस्वभाव होने पर भी अज्ञानी जीव भ्रमणा से ऐसा मानता है कि मैं

पर का कर्ता और पर मेरा कर्ता। पर के साथ कर्ताकर्मपने की बात तो दूर रही, यहाँ तो अन्तर के विकारी भावों के साथ भी भेदज्ञान करके उन विकारी भावों के साथ कर्ताकर्मपने की बुद्धि छुड़वाते हैं।

२०- मैं एक चैतन्यस्वभावी तत्त्व, और विकारी वृत्तियाँ अनेक प्रकार की; तो मेरा एक चैतन्यभाव अनेक प्रकार की विकारी वृत्तियों का कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिए एक चैतन्यस्वभावी ऐसे मुझे, अनेक प्रकार के क्रोधादि भावों के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।—ऐसा जाननेवाला धर्मी जीव, क्रोधादि विकार का कर्ता नहीं होता।

२१- ज्ञान को तथा क्रोधादि को एकमेक रूप मानता हुआ अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैं एक चैतन्य तो कर्ता हूँ और यह क्रोधादि अनेक भाव मेरा कर्म हैं।—इसप्रकार उस अज्ञानी को विकार के साथ कर्ताकर्म की जो प्रवृत्ति अनादि से चली आ रही है, उसका नाश कैसे हो? उसकी यह बात है।

२२- —क्षणिक विकार की कर्तृत्वबुद्धि में त्रिकाली चिदानन्दस्वभाव का अनादर होता है, वह अनंत क्रोध है;

— चैतन्य के स्वामित्व से च्युत होकर जड़ का तथा विकार का स्वामित्व माना, तथा उसके कर्तृत्व का अहंकार किया, वही अनंत मान है;

— सरल चैतन्यस्वभाव को वक्र करके विकार में युक्त किया, वही अनंती वक्रता-माया है;

— जो अपने चैतन्यस्वभाव से भिन्न है, ऐसे पर के तथा विकार के ग्रहण की बुद्धि ही अनंत लोभ है।

—इसप्रकार अज्ञानभाव में अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ का सेवन है, वही अनंत संसार का मूल है।

२३- भेदज्ञान होते ही उस अज्ञान का नाश होता है और अनंत संसार के मूल का छेदन हो जाता है, इसलिये वह जीव अल्पकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। ऐसा भेदज्ञान कैसे होता है, उसकी यह बात है।

२४- अनंत जीव तथा अजीव पदार्थ जगत में स्वयमेव सत् अनादि-अनंत हैं; वे समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने-अपने कार्यरूप से परिणमित होते हैं। पदार्थ में द्रव्य-गुण तो त्रिकाल हैं, इसलिये उसमें तो कुछ नवीन करना रहता ही नहीं; नया कार्य तो पर्याय में होता है। उस पर्याय

का कर्ता पदार्थ स्वयं है। अब यहाँ अज्ञानी कर्ता होकर क्या करता है और ज्ञानी कर्ता होकर क्या करता है, वह बात है।

२५- सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को ढँककर, उसके अस्तित्व को भूलकर, क्षणिक क्रोधादि ही मैं हूँ—ऐसी बुद्धिवाला अज्ञानी जीव क्रोधादि के साथ ही अपना कर्ताकर्मपना मानता है। भेदज्ञान ज्योति उस अज्ञानी की कर्ताकर्म-प्रवृत्ति को सब ओर से शांत कर देती है और एक ज्ञानभाव के ही कर्ताकर्मपने में आत्मा की स्थापना करती है।

२६- आत्मा तो स्व-परप्रकाशक चैतन्यप्रकाशी सूर्य है, और विकार तो अंधकार समान है। चैतन्यसूर्य विकाररूपी अंधकार का कर्ता कैसे हो सकता है? जिसप्रकार सूर्य और अंधकार के बीच कभी एकता नहीं हो सकती, उसीप्रकार ज्ञान और विकार कभी एकमेक नहीं हो सकते।

२७- विकार तो चैतन्यस्वभाव से बहिरंग है; चैतन्य का अंतरंग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसे चैतन्य में अन्तर्मुख होकर 'ज्ञान ही मैं हूँ'—ऐसा भान करने पर ज्यों ही भेदज्ञानज्योति प्रगट हुई, वहाँ वह ज्ञानज्योति किसी विकार के आधीन नहीं होती; उसमें आकुलता नहीं किन्तु आनन्द है, धीरता है, उदारता है। ज्ञानज्योति ऐसी उदार है कि समस्त संसार को जानने पर भी उसमें संकुचितता नहीं आती; और ऐसी धीर है कि चाहे जैसे संयोग को जानने पर भी वह अपने ज्ञानभाव से च्युत नहीं होती; विकार को जानते हुये भी स्वयं विकाररूप नहीं होती।—ऐसी ज्ञानज्योति विकार के कर्ताकर्म की प्रवृत्ति को दूर कर देती है। राग को या पर को करने का उसका स्वभाव नहीं है, किन्तु जगत के समस्त पदार्थों को जानने का स्वभाव है।

—ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट हो, वह अपूर्व मंगल है।

इसप्रकार ज्ञानज्योति के प्रकाश द्वारा आचार्यदेव ने इस अधिकार का मंगलाचरण किया।

२८- अब अज्ञानी जीव की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कैसी होती है?—वह बात दो गाथाओं में समझाते हैं:—

यावन्नवेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः॥७०॥

अर्थ—जीव जब तक आत्मा और आस्रव—इन दोनों के अंतर तथा भेद को नहीं जानता,

तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ, क्रोधादिक आस्रवों में वर्तता है; क्रोधादि में वर्तते हुए उसे कर्मों का संचय होता है। वास्तव में, इसप्रकार जीव को कर्मों का बन्ध सर्वज्ञदेवों ने कहा है।

देखो, सर्वज्ञदेव की साक्षी देकर आचार्यदेव बात करते हैं।

२९- आत्मा, पर से तो अत्यन्त भिन्न ही हैं; इसलिये पर के साथ तो कर्ताकर्मपना—अज्ञानी माने, तथापि हो नहीं सकता। अब यहाँ आंतरिक भाव की बात है। चिदानन्दस्वभाव को भूला हुआ अज्ञानी जीव, क्रोधादि आस्रवभावों में तन्मयरूप से वर्तता हुआ उनका कर्ता होकर कर्म बाँधता है।

३०- 'जिसप्रकार ज्ञान मैं हूँ, उसीप्रकार क्रोधादि भी मैं हूँ'—इसप्रकार ज्ञान और क्रोध को एकमेकरूप मानकर नि:शंकरूप से क्रोधादि में अपनत्वरूप से वर्तता है; वह अज्ञानी जीव, मोहरूप परिणमित होता हुआ नवीन कर्म बन्धन में निमित्त होता है।

३१- वास्तव में ज्ञान तो स्वभावभूत है, इसलिये ज्ञानक्रिया तो अपनी ही है; और क्रोधादि तो परभावभूत हैं; इसलिये उन क्रोधादि की क्रिया का निषेध किया है। किन्तु ज्ञानक्रिया और क्रोधादिक्रिया के बीच का ऐसा अन्तर न जाननेवाला अज्ञानी जीव, ज्ञान की भाँति क्रोधादि का भी कर्ता होता हुआ, नवीन कर्मों का बन्ध करता है।

३२- ज्ञान तो स्वभावभूत है, इसलिये ज्ञान में नि:शंक होकर अपनत्वरूप वर्तन करना तो यथार्थ है; 'ज्ञान ही मैं हूँ'—ऐसी तो ज्ञानक्रिया, उसमें विकल्प का आश्रय किंचित्मात्र नहीं है; वह ज्ञानक्रिया तो आत्मा के स्वभावभूत है, इसलिये उसका निषेध नहीं है, उसे आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता; आत्मा और ज्ञान के बीच किंचित् भेद नहीं किया जा सकता; इसलिये धर्मात्मा ज्ञानस्वभाव को ही अपना जानता हुआ नि:शंकरूप से उसमें वर्तता है।—उस ज्ञानस्वभाव में नि:शंक होकर अपनत्वरूप वर्तन की जो ज्ञानक्रिया है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है; इसलिये उस ज्ञानक्रिया का तो मोक्षमार्ग में निषेध नहीं किया गया है।—उसका तो स्वीकार किया है।

३३- तो फिर कौन-सी क्रिया का निषेध किया गया है?—वह अब कहते हैं:—जिसप्रकार ज्ञान, सो मैं; उसीप्रकार क्रोधादि भी मैं,—ऐसी बुद्धि से ज्ञान और क्रोधादि में भेद न जानता हुआ अज्ञानी नि:शंक होकर क्रोधादि में अपनत्वरूप वर्तन करता है, और क्रोधादि में लीनतारूप से वर्तता हुआ वह अज्ञानी, मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमित होता हुआ कर्मबन्ध करता है।—इसप्रकार बन्ध का कारण होने से उस क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है।

३४- देखो, दो क्रियाएँ हुई—

(१) ज्ञान क्रिया,

(२) क्रोधादि क्रिया;

(१) 'ज्ञान, सो मैं'—इसप्रकार ज्ञान के साथ एकत्व परिणमनरूप ज्ञानक्रिया, वह तो स्वभावभूत है।

(२) 'क्रोध, सो मैं'—इसप्रकार क्रोधादि के साथ एकत्व परिणमनरूप क्रोधादि क्रिया वह परभावभूत है।

(१) स्वभावभूत ज्ञानक्रिया का तो निषेध हो नहीं सकता। (वह ज्ञानी की ज्ञानक्रिया है)

(२) परभावभूत क्रोधादि क्रिया का निषेध किया गया है। (वह अज्ञानी की क्रिया है।)

(३) तीसरी जड़ की क्रिया है; उसके साथ जीव को कर्ता-कर्मपने का सम्बन्ध नहीं है।

३५- ज्ञान के साथ आत्मा का त्रिकाल एकता (नित्य तादात्म्य) है; किन्तु क्रोधादि के साथ त्रिकाल एकता नहीं है; वह क्षणिक सम्बन्धमात्र होने से संयोगसिद्ध सम्बन्धरूप है। तथापि अज्ञानी इन दोनों को (ज्ञान तथा क्रोध को) एकमेक मानकर वर्तता है, उनके भेद को नहीं देखता, तब तक वह मोहादिभाव से परिणमित होता हुआ कर्मबन्धन करता है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

३६- आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उस ज्ञानस्वभाव में अंतर्मुख होकर परिणमित होनेवाले को तो अपने ज्ञान-आनन्द का ही कर्तृत्व होता है, विकार का कर्तृत्व उसे नहीं होता; और जहाँ विकार का कर्तृत्व न हो, वहाँ बन्धन, दुःख या संसार भी नहीं होता। परन्तु अज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर, उससे विमुख वर्तता हुआ, विकार का कर्ता होकर परिणमित होता है, इसलिए उसे बन्धन, दुःख और संसार है।

३७- यहाँ आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि हे भाई! अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को तू क्षणिक विकार से भिन्न देख। ज्ञान के साथ तेरी जैसी एकता है, वैसी एकता रागादि विकार के साथ नहीं है, इसलिए उस रागादि विकार के साथ की एकताबुद्धि छोड़..... उसके साथ तुझे कर्ताकर्मपना वास्तव में नहीं है। उस विकार के कर्तृत्व से रहित अपने ज्ञानस्वभाव को तू लक्ष में ले।

३८- चिदानन्दतत्त्व अंतर में है और रागादि वृत्तियाँ बहिर्लक्षी हैं। जिसे बहिर्लक्षी ऐसी

रागादि वृत्तियों का बहुमान-रुचि-आदर वर्तता है, उस जीव को त्रिकाली चिदानन्दतत्त्व के प्रति अनादर-अरुचि-क्रोध है, वही महापाप है। भेदज्ञान द्वारा उस महापाप से कैसे बचना चाहिये, उसकी वह बात है।

३९- भेदज्ञान क्या वस्तु है, उसके भान बिना जीव ने अनन्त बार बाह्य त्याग किया, दयादि के शुभभाव किये और बाह्यक्रिया का या राग का ही कर्तृत्व मानकर अज्ञानीरूप से संसार में ही भटककर दु:खी हुआ; इसलिये रागादि के साथ एकतारूप यह जो क्रोधादि क्रिया है, उसका निषेध किया गया है। मैं ज्ञानक्रिया का ही कर्ता हूँ, क्रोधादि क्रिया का कर्ता मैं नहीं हूँ—इसप्रकार ज्ञान और क्रोध का भेदज्ञान करना, वह अपूर्व धर्म है।

४०- विकार के कर्तृत्वरूप क्रिया आत्मस्वभाव के बाहर है, तथापि मानों वह मेरा स्वभाव हो—ऐसी आदत अज्ञानी को पड़ गई है, इसलिये वह विकार के कर्तारूप से परिणमित होता है। कर्म के उदय के कारण विकाररूप से परिणमित होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु उसे अपने अज्ञानभाव के कारण विकार का कर्ता होने की आदत पड़ गई है, इसलिये वह विकार के कर्तारूप से परिणमित होता है;—यह अज्ञानी की क्रिया है, कि जो संसार का कारण है।

४१- जिसप्रकार गाड़ी का जुआँ उठाने की आदतवाला बैल, जुआँ ऊपर उठते ही उसमें अपनी गर्दन डाल देता है, उसीप्रकार विकार के कर्तृत्व की आदतवाला अज्ञानी विकार में कर्तृत्व विकार में एकतापूर्वक परिणमित होता हुआ संसाररूपी जुएँ में अपने को जोतता है। विकार के कर्तृत्व का वह अभ्यास ज्ञानस्वभाव के बारम्बार अभ्यास द्वारा छूट सकता है; क्योंकि विकारक्रिया आत्मा के स्वभावभूत नहीं है, इसलिये वह छूट सकती है।

४२- शास्त्रों में निश्चय का और व्यवहार का समस्त कथन है; वहाँ अनादि के व्यवहार की आदतवाला मूढ़ अज्ञानी जीव निश्चय को छोड़कर एकान्त व्यवहार को पकड़ लेता है—वह सती स्त्री को छोड़कर वेश्या के पास जाने जैसा है। अकेले पराश्रय में भटकती हुई बुद्धि को शास्त्र में व्यभिचारिणी बुद्धि कहा है। आत्मा का ज्ञायकभाव सत्—जिसमें पर का संग नहीं है; सती जैसा पवित्र—जिसमें विकारी परभाव की छाया भी नहीं है;—ऐसे स्वभाव का संग छोड़कर जो विकार के संग में जाता है, वह जीव बहिर्दृष्टि-अज्ञानी होता हुआ क्रोधादिरूप से परिणमित होता है।

४३- सती अंजना के पति पवनंजय बाईस वर्ष तक उनका त्याग किये रहे; उनकी ओर देखा तक नहीं..... किन्तु सती के मन में पति के प्रति आदर-भक्ति के सिवा अन्य भाव नहीं है।

अन्त में पवनकुमार को पछतावा होता है कि मैंने बिना कारण सती का त्याग किया..... उसीप्रकार 'पवन' जैसा संचल अज्ञानी जीव अनादि से ज्ञप्ति-क्रियारूप सती को छोड़कर विकार का कर्ता होता है... उसे श्रीगुरु समझाते हैं कि अरे मूढ़! यह विकार क्रिया तेरी नहीं है, तेरी तो ज्ञप्तिक्रिया ही है, वही तेरे स्वभावभूत है.... इसलिये उसमें तन्मय हो और विकार का कर्तृत्व छोड़। श्री गुरु के उपदेश से इसप्रकार भेदज्ञान होते ही जीव अपनी स्वभावभूत-ज्ञप्तिक्रियारूप से परिणमित होता है और विभावभूत ऐसी विकार क्रिया के कर्तृत्व का त्याग करता है।

४४- देखो, यह भोज! जिसप्रकार विशाल उत्सव में मिष्ठान्न आदि का भोज दिया जाता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्ष के महोत्सव में सन्त समस्त जगत को सपरिवार आमन्त्रण देकर भेदज्ञान का अपूर्व भोजन परोसते हैं।—फिर कौन जीमने नहीं आयेगा? अरे, कोई बीमार हो और मिष्ठान्न न पचा सके तो दालभात भी खा सकता है। उसीप्रकार इस तत्त्व को समझकर भेदज्ञानरूप परिणमित होना तो मिष्ठान्न के भोजन समान है; उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है; और यदि इतनी शीघ्र न हो सके तो उसकी भावना रखकर 'यह करने योग्य है'—इतना लक्ष बाँधना, वह भी दालभात का भोजन करने जैसा है, उससे भी चैतन्य को पोषण मिल जायेगा।—किन्तु इससे विपरीत मानना वह तो शूकर का भोजन खाने जैसा है। हे भाई! सन्त तुझे आत्मा का सच्चा भोजन कराते हैं।—कि जिसके स्वाद से तुझे अतीन्द्रिय आनन्दरस का अनुभव होगा; इसलिये एकबार उसका रसास्वादन कर.... और जगत के अन्य रसों को छोड़।

४५- चैतन्यस्वरूप आत्मा तो अपनी सहज उदासीन ज्ञानदशारूप होने के स्वभाववाला है... किन्तु अज्ञानी जीव अपनी उस दशा का त्याग करके, ज्ञान से विरुद्ध ऐसे क्रोधादि अज्ञानभावरूप से परिणमित होता है, इसलिये वह क्रोधादि का कर्ता है और वे क्रोधादिक उसका कर्म हैं। उसके इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का फल संसार है; इसलिये अज्ञानी की क्रिया संसार के लिये 'सफल' है, वह क्रिया संसाररूपी फल देनेवाली है, किन्तु मोक्ष के लिये वह निष्फल है।

४६- धर्मात्मा जानता है कि—जीवन में, मरण में या परलोक में सर्वत्र मुझे अपना आत्मा ही शरणभूत है। मेरा आत्मा सहज उदासीन ज्ञानदशारूप परिणमित होने के स्वभाववाला है, उससे भिन्न अन्य कोई मेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसे भान में धर्मी जीव अपने ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है, अज्ञान व्यापाररूप—क्रोधादिरूप वह परिणमित नहीं होता।

४७- ज्ञानी को 'क्रोधादि क्रिया' नहीं होती—इसका क्या अर्थ?—क्या ज्ञान होते ही

तत्क्षण सर्वथा वीतरागता हो जाती है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। सामान्य क्रोधादिभाव ज्ञानी धर्मात्मा को आयें, वह अलग बात है, किन्तु उस समय भी भेदज्ञान के प्रभाव से उन्हें ज्ञान के साथ ही एकतारूप परिणमन होने से वास्तव में वे ज्ञानभावरूप ही परिणमित हो रहे हैं। क्रोधादि के साथ एकत्वबुद्धि टूट गई है, इसलिये क्रोधादि के कर्तारूप से उस समय भी वे परिणमित नहीं होते, इसलिये उन्हें क्रोधादि क्रिया नहीं है। और जिसे राग में एकत्वबुद्धि है—ऐसा अज्ञानी जीव, किसी के द्वारा गालियाँ दी जाने पर भी शुभराग से क्षमा धारण करे तथापि, उससमय भी उसे क्रोधादिरूप परिणमन है, क्रोधादि के कर्तारूप से ही वह परिणमित हो रहा है, क्रोधादि से पार ऐसे ज्ञानभाव की उसे खबर भी नहीं है।

४८- क्रोधादिभाव ज्ञान से भिन्न हैं; इसलिये जहाँ ज्ञान है, वहाँ क्रोधादि का कर्तृत्व नहीं है, और जहाँ क्रोधादि का कर्तृत्व है, वहाँ भेदज्ञान नहीं है।—इसप्रकार उन दोनों में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो ज्ञानरूप हैं, क्रोधादिभाव उस ज्ञानभवन से भिन्न हैं। वहाँ जिसे ज्ञानभवन का अभाव है अर्थात् जो सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित नहीं होता—ऐसे अज्ञानी जीव को क्रोधादि अज्ञानभाव ही अपने कार्यरूप से प्रतिभासित होता है, अपना पूर्ण आत्मा उसे क्रोधादिरूप ही प्रतिभासित होता है, क्रोध से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप उसे प्रतिभासित नहीं होता, इसलिये वह अज्ञानी जीव क्रोधादि का कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है।—ऐसी अज्ञानी की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।

४९- जीव अज्ञानरूप से भी मात्र अपने क्रोधादिभाव का कर्ता होता है, किन्तु अपने से बाहर ऐसे देहादि के कार्यों का कर्ता तो अज्ञानरूप से भी नहीं है। 'मैं देह की क्रिया करता हूँ'—ऐसी मान्यतारूप अज्ञानभाव को वह अज्ञानी भले करे, तथापि देहादि की क्रिया को तो वह कर नहीं सकता—ऐसा नियम है।

५०- चैतन्य की दृष्टि छोड़कर अनादिकाल से शरीरादि पर दृष्टि लगा रखी है कि यह देह, सो मैं और देह की क्रियाएँ मेरी—तथापि जीव कभी देहरूप हुआ नहीं है और न होगा। मात्र ज्ञान के बदले रागरूप परिणमित होता है—ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अज्ञानभाव के कारण अनादिकाल से चली आ रही है। उस प्रवृत्ति को भेदज्ञान द्वारा नष्ट करने की यह बात है।

५१- अहा! वन में रहकर, आत्मा के आनन्द में छठवीं-सातवीं भूमिका में झूलते-झूलते मुनिवरों ने यह अमृत बहाया है। विकार के वेग में बहते हुए प्राणियों को सम्बोधकर, ज्ञानस्वभाव

की ओर उन्मुख किया है कि अरे जीवों! लौटो... लौटो! वह विकार तुम्हारा कार्य नहीं है... तुम्हारा कार्य तो ज्ञान है... विकार के वेग में बहते हुए तुम्हारी तृषा शांत नहीं होगी, इसलिये उससे विमुख होओ विमुख होओ! ज्ञान में लीनता से ही तुम्हारी तृषा शांत होगी, इसलिये ज्ञान की ओर आओ... रे.. आओ!

५२- 'मैं पर का कर्ता' ऐसी जो स्व-पर की एकत्वबुद्धि, वह तो तीव्र मिथ्यात्व है और अनन्त संसार दुःख का कारण है; इसलिये वह तो छोड़ने योग्य है ही; तदुपरान्त, ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्ता होकर विकार करता है—ऐसी दृष्टि भी मिथ्यात्व तथा अनन्त संसार दुःख का कारण है, इसलिये वह भी छोड़ने योग्य है। क्षणिक विकार से पार चैतन्यतत्त्व मैं हूँ—ऐसी अन्तर्दृष्टि द्वारा मिथ्यात्व का नाश होकर अपूर्व धर्म का प्रारम्भ होता है।

५३- भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव है... ज्ञान क्या पर को करता है?—नहीं; ज्ञान क्या विकार को कर्ता है?—नहीं। तथापि ऐसे ज्ञानस्वभाव को भूलकर अज्ञानी जीव विकार में ही आत्मा का सर्वस्व मानता हुआ उसके कर्तारूप से परिणमित होता है और इसलिये अशरणरूप से संसार की गति-गति में भटक रहा है... उसके दुःख का कोई पार नहीं है।

५४- अरे, चैतन्य से च्युत होकर जीव चौरासी के अवतार में ज्यों का त्यों चला जाता है... कहीं शरण! कहीं विश्राम स्थल!—तो कहते हैं कि हाँ, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही शरण और विश्राम है... किन्तु विकार की ओर के वेग से किंचित् विमुख होकर स्वभाव की ओर देखे तब न!

५५- प्रभो! विकार तुझे अपने कार्यरूप भासित हो और अपना ज्ञान कार्य तुझे भासित न हो—यह तो तेरा अज्ञान है; अपने अज्ञान से ही तू विकारी हो रहा है। कर्म तुझे विकार नहीं कराते। ज्ञाता स्वयं अपना भान भूलकर, अपने को विकारी मानकर विकारी हुआ है। इसप्रकार अज्ञानरूप अपने अपराध से ही जो क्रोधादिरूप हुआ है, ऐसे इन आत्मा को क्रोधादि के निमित्त से कर्मबन्धन होता है।

५६- देखो, यह बन्ध का कारण! क्रोधादि में वर्तना ही बन्ध का कारण है, और ज्ञानस्वभाव में वर्तन करना ही मोक्ष का कारण है।—इसप्रकार मोक्ष के कारणरूप ज्ञानक्रिया और बन्ध के कारणरूप क्रोधादि क्रिया, इन दोनों का भेदज्ञान करके ज्ञानस्वभाव में वर्तना चाहिये। ज्ञानस्वभाव में परिणमन करने से ही बन्ध का निरोध हो जाता है।—इसप्रकार बन्ध का कारण और उसके नाश का उपाय—दोनों बतलाये हैं।

५७–जीव अपने अज्ञानभाव से ही स्वयं क्रोधादिरूप परिणमित होता है, कर्म के कारण नहीं, तथा जीव के भाव को निमित्त बनाकर पुद्गल स्वयं उनके अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होते हैं, जीव के कारण नहीं। इसप्रकार जीव–पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन होने पर भी, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का ऐसा मेल है कि जितने प्रमाण में जीव का विकार हो, उतने ही प्रमाण में कर्म बन्धन होता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जितने प्रमाण में कर्म का उदय हो, उतने ही प्रमाण में जीव को विकार होता हो!

५८– अब जीव और पुद्गल दोनों अपने–अपने भावरूप से स्वयं परिणमित होने पर भी, जब जीव अज्ञानभाव से क्रोधादिरूप परिणमन करता है, तब उसके निमित्त करके पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमित होते हैं—इसप्रकार जीव–पुद्गल के परस्पर सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। देखो, सर्वज्ञ भगवान ने इसप्रकार जीव को बन्धन कहा है, उसे बतलाकर आचार्यदेव उससे छुटकारे का उपाय भी बतलायेंगे।

५९– तीन प्रकार के सम्बन्ध इस गाथा में आये—

(१) ज्ञान और आत्मा का नित्य तादात्म्यरूप सम्बन्ध, यह सम्बन्ध तो स्वभावरूप है, वह कभी टूट नहीं सकता।

(२) क्रोधादि का और आत्मा का क्षणिक संयोगसिद्ध सम्बन्ध है, वह विभावरूप है और टूट सकता है। ज्ञान के साथ सम्बन्ध जोड़ने से विकार के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है।

(३) जीव जब क्रोधादि के साथ सम्बन्ध करता है, तब उसे कर्म के साथ सम्बन्धरूप बन्धन होता है। विकार के साथ का सम्बन्ध टूटने पर यह सम्बन्ध भी छूट जाता है।

६०– चैतन्यस्वभाव की ओर देखनेवाला जीव, कर्म की ओर नहीं देखता; इसलिए उसे कर्म के साथ का सम्बन्ध नहीं रहता। कर्म के साथ सम्बन्ध किसे रहता है?—कि जो कर्म की ओर देखता है उसे।

६१– भाई! तू अपने चिदानन्दतत्त्व की ओर देख, तो उसमें से तुझे अपनी शांति का वेदन होगा। यह शरीर किसका?... और यह कुटुम्ब किसका?—यह सब तो तुझसे बाह्य तत्त्व है, उनमें कहीं तेरी शरण नहीं है... इसलिए उनकी ओर देखना छोड़... और चैतन्यतत्त्व के सन्मुख दृष्टि करके उसी को अपने जीवन का ध्येय बना।

६२– धर्मात्मा तो ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से कर्म का सम्बन्ध तोड़ डालते हैं, उनकी यहाँ बात

नहीं है, यहाँ तो अज्ञानी की बात है। अज्ञानी की दृष्टि कर्म पर है, ज्ञान पर नहीं है; इसलिये जो नवीन कर्म बँधता है, उसे वह पुनः पुनः (अपने अज्ञानभाव के कारण) अज्ञान का निमित्त बनाता है। इसप्रकार उसे कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का प्रवाह अज्ञानभाव के कारण चलता ही रहता है। जो अज्ञानभाव को बनाए रखता है, उसकी यह बात है। जो जीव भेदज्ञान प्रगट करके अज्ञान को दूर करता है, उसे तो कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी टूट जाता है।

—इसप्रकार अज्ञान ही संसार का मूल है, ऐसा इन गाथाओं में बतलाया है ॥६९-७०॥

६३- अब, अज्ञानजनित कर्ताकर्म की प्रवृत्ति ही संसार का मूल है—ऐसा जानकर जिसे उससे छूटने की तीव्र इच्छा जागृत हुई है, ऐसा शिष्य विनयपूर्वक पूछता है कि प्रभो! अज्ञानजनित इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है? आत्मा को दुःख देनेवाली तथा बन्धन करनेवाली ऐसी यह प्रवृत्ति कब छूटती है? क्या करने से इस दुःखरूप प्रवृत्ति का अंत आता है?—उसका उत्तर आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे। *[क्रमशः]*

गिने नहीं जाते किन्तु अनुभव में समाते हैं

'सर्वार्थ सिद्धि' उत्कृष्ट देव लोक है, वहाँ असंख्य देव हैं; वे सब सम्यग्दृष्टि हैं, उनकी आयु ३३ सागरोपम (असंख्य-अरबों वर्ष) है, तथा वे एकावतारी हैं; वे सब देव मिलकर असंख्य वर्षों तक लगातार गिनते रहें, तब भी आत्मा की शक्ति का पार न आये—ऐसी अनन्त शक्ति का स्वामी प्रत्येक आत्मा है। उन सम्यग्दृष्टि देवों ने अनन्त शक्ति सम्पनन आत्मा के आनन्द का स्वाद स्वसंवेदन से चख लिया है। विकल्प द्वारा गिनती करने से आत्मा की शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता, किन्तु ज्ञान को अन्तर में लीन करने से क्षणमात्र में आत्मा की सर्व शक्ति का पार पाया जाता है। आत्मा के गुण गिनने से गिने नहीं जाते, किन्तु अनुभव में समाते हैं और ज्ञान में ज्ञात होते हैं।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

[अंक १८२ से आगे]

'आत्मधर्म' के अनेक जिज्ञासु पाठकों की ओर से सरल लेखों की मांग आने पर अंक १५३ से यह लेखमाला प्रारम्भ की गई है। यह प्रवचन अध्यात्म रस से भरपूर होने पर भी सरल हैं और इन्हें आसानी से समझा जा सकता है; यही कारण है कि पाठकों ने इस लेखमाला की विशेष पसन्द किया है और इसे पुस्तकाकार प्रकाशित कराने की मांग की है।

इस 'समाधिशतक' के रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी आज से लगभग १४०० वर्ष पहले हो गये हैं; वे एक महान दिगम्बर संत थे और उनका दूसरा नाम देवनन्दी था। वे विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे—ऐसा उल्लेख भी शिलालेखों में मिलता है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका तथा जैनेन्द्र व्याकरण इष्टोपदेश आदि महान ग्रन्थों की रचना की है। उनकी अगाध बुद्धि के कारण योगियों ने उन्हें 'जिनेन्द्र बुद्धि' कहा है।—ऐसे महान आचार्य द्वारा रचित 'समाधिशतक' के यह प्रवचन हैं।

[आषाढ़ कृष्णा ९, वीर सं० २४८२]

(समाधिशतक गाथा ३८)

राग-द्वेष से विक्षिप्त हुआ मन, ज्ञान के उग्र संस्कार द्वारा स्वतत्त्व में स्थिर होता है—ऐसा कहा। अब कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव की भावना से जिसने अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करके अविक्षिप्त किया है, उसे मान-अपमान से विक्षेप नहीं होता। और जिसका चित्त चैतन्यभावना में एकाग्र नहीं हुआ, उसी को मान-अपमान से चित्त में विक्षेप-क्षुब्धता होती है—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

चैतन्य की भावना में जिसका चित्त स्थिर न होने से, जिसके चित्त में राग-द्वेष का विक्षेप वर्तता है, उसी को मान-अपमान लगता है; किन्तु चैतन्य की भावना में जिसका चित्त स्थिर हुआ है, अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेष का विक्षेप नहीं वर्तता, उसे मान-अपमान कुछ नहीं है; अर्थात् मान-अपमान में उसे समभाव वर्तता है।

'इसने मुझे मान दिया, इसने मेरा अपमान किया; इसने मेरा आदर किया; इसने मेरा तिरस्कार किया'—इत्यादि मान-अपमान की कल्पना जीव को तभी तक सताती है, जब तक उसका चित्त, राग-द्वेषादि विभावों से कुत्सित वर्तता है; राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दुःखी होता है परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष-मोहरूपी विभावों से दूर होकर अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर हुआ है, उसे ऐसी मान-अपमान की कल्पनाएँ नहीं सताती। चैतन्य के आनन्द में लीन होने पर, निन्दा-स्तुति का विकल्प ही नहीं उठता; सर्वत्र समभाव वर्तता है—

"शत्रु-मित्र के प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान-अमाने वर्ते ही स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहिं न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो॥"

देखो, यह संतों की समाधि दशा!—किन्तु ऐसी वीतरागी समाधि किस प्रकार होती है! —तो कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता के दृढ़ संस्कार से ऐसी वीतरागी समाधि होती है।

मेरे ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं है; इन्द्रियों का मुझे आधार नहीं है, राग मुझे शरणभूत नहीं है—ऐसी भावनावाले ज्ञानी को परद्रव्य से अपना मान-अपमान नहीं लगता। मेरी महत्ता तो मेरे ज्ञान स्वभाव से ही है; मेरे स्वभाव की महत्ता तो तोड़ने के लिये जगत में कोई समर्थ नहीं है।

—इसप्रकार जिसे अपने स्वभाव की महत्ता भासित नहीं होती और पर संयोग द्वारा ही जिसने अपनी महत्ता मानी है, ऐसे अज्ञानी को मान-अपमान लगे बिना नहीं रहता। कोई अनादर

करें, निन्दा करे-द्वेष करे, वहाँ अज्ञानी को ऐसा अपमान लगता है जैसे उसके स्वभाव का ही हनन हो गया हो ! और जहाँ मान-प्रतिष्ठा या सुविधा प्राप्त हो, वहाँ उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे उसके स्वभाव में वृद्धि हो गई हो !—ऐसी मान-अपमान की वृत्ति अज्ञानी को ही होती है; ज्ञानी को ऐसी वृत्ति नहीं होती; क्योंकि वे परसंयोग के द्वारा अपने आत्मा की महत्ता या हीनता नहीं मानते। अस्थिरता के कारण किंचित् मान-अपमान की वृत्ति हो, वहाँ ज्ञानी को स्वभाव की भावना छूटकर वह वृत्ति नहीं हुई है। मुनिवरों को तो इतना वीतरागी चारित्र हो गया है कि उन्हें मान-अपमान की वृत्ति ही नहीं उठती। सम्यक्त्वी गृहस्थ को इतना वीतरागी चारित्र नहीं हुआ है, किन्तु पर संयोग के प्रभाव से रहित अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि हो गयी है, अज्ञान के संस्कार छूट गये हैं, ज्ञानस्वभाव की महत्ता भासित हुई है; इसलिए उस ज्ञानस्वभाव की महत्ता के समक्ष अन्य पदार्थों की किञ्चित् महत्ता भासित नहीं होती; इसलिए अन्य पदार्थों के द्वारा वह अपनी महत्ता नहीं मानता तथा निन्दा आदि प्रतिकूल प्रसङ्गों में भी उसे अपमान का अनुभव नहीं होता। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, किन्तु दोनों समय, मैं तो उसने पृथक् ज्ञानस्वरूप हूँ; निन्दा या प्रशंसा के शब्द मुझमें नहीं आते; निन्दा करनेवाला उसके अपने द्वेषभाव को करता है और प्रशंसा करनेवाला उसके अपने रागभाव को करता है, किन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में वे कोई कुछ नहीं करते—ऐसे भान में धर्मी को मान-अपमान की बुद्धि छूट गयी है। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो जाती है, वह अपने अस्थिर भाव के कारण है; संयोग के कारण नहीं है—ऐसा वह जानता है और ज्ञानभावना में स्थिर होकर उस राग-द्वेष की वृत्ति को तोड़ देता है।

अज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है; संयोग की ही भावना है; संयोग से वह अपनी हीनता-अधिकता मानता है। अनुकूल संयोगों में अपने बड़प्पन का अनुभव करता है और प्रतिकूल संयोगों में अपनी हीनता दिखायी देती है; इसलिए उसे संयोगों के प्रति राग-द्वेष होता ही रहता है; अविद्या के संस्कारों के कारण उसे सर्वत्र अपना मान-अपमान भासित होता है। मैं तो संयोग से भिन्न ज्ञायकस्वभावी हूँ; मेरे ज्ञान की जगत में कोई प्रतिकूल या अनुकूल नहीं है; सब मेरे ज्ञेय ही हैं—ऐसी स्वभावभावना द्वारा ही मान-अपमान की वृत्ति दूर होकर समाधि / शान्ति होती है।

भरत और बाहुबली दोनों चरमशरीरी सम्यक्त्वी थे। भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली से नमन करने को कहा तो बाहुबली को ऐसा लगा कि हमारे पिता (ऋषभदेव भगवान) ने हम दोनों को

राज्य दिया है। भरत राजा हैं तो मैं भी राजा हूँ; फिर मैं भरत को क्यों नमन करूँ? इस प्रकार किञ्चित् मान की वृत्ति आयी; फिर दोनों में युद्ध हुआ और भरत हार गये, तब उन्हें भी किञ्चित् अपमान की वृत्ति हो आयी। इस प्रकार मान-अपमान की वृत्ति होने पर भी उन दोनों धर्मात्माओं को उस समय भी ज्ञानस्वभाव की ही भावना है। ज्ञानस्वभाव की भावना छूटकर राग-द्वेष की वृत्ति नहीं हुई है; अधिकता तो ज्ञानभावना की ही है। मान-अपमान की वृत्ति उठी; इसलिए उस समय वे अज्ञानी थे—ऐसा नहीं है।

अन्तर में ज्ञानभावना का बल होने से उनका ज्ञान, मान-अपमानरूप परिणमित ही नहीं होता—इस बात की अज्ञानी को खबर नहीं है। ज्ञानभावना को छोड़कर, जो अज्ञान से परसंयोग में मान-अपमान की बुद्धि करता है, वह अज्ञानी है। जिसे ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है—ऐसे अज्ञानी को ही बाह्यदृष्टि से एकान्त मान-अपमानरूप परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञानी को ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्न परज्ञेयरूप ही जानते हैं और ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा ज्ञान की अधिकतारूप ही परिणमित होते हैं। ज्ञानी की ऐसी भावना को अज्ञानी नहीं जानता; इसलिए ज्ञानी को किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति देखे, वहाँ उसे ऐसा भ्रम होता है कि ज्ञानी ही इस राग-द्वेष को करते हैं, किन्तु ज्ञानी तो उस समय राग-द्वेष से अधिक ज्ञानभावनारूप ही परिणमित होते हैं, उसे अज्ञानी नहीं देख सकता क्योंकि उसे स्वयं को ज्ञानभावना जागृत नहीं हुई है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि जिसे ज्ञानभावना नहीं है, वही संयोग में मान-अपमान की कल्पना करके राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; ज्ञानी को किसी संयोग में मान-अपमान की बुद्धि से राग-द्वेषरूप परिणमन होता ही नहीं। इसलिए हे जीव! तू अपने चित्त को चैतन्यभावना में स्थिर कर, ताकि वह राग-द्वेष से क्षुब्ध न हो। और जहाँ चित्त का क्षोभ नहीं है, वहाँ मान-अपमान की कल्पना नहीं होती; इसलिए राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु समाधि ही होती है। चाहे जैसे प्रतिकूल या अनुकूल प्रसङ्गों पर वह चैतन्यभावनावाला जीव अपने सम्यग्दर्शनादि से च्युत नहीं होता, ज्ञानभावना से च्युत नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की भावना ही वीतरागी समाधि का उपाय है और वही भावना भानेयोग्य है—ऐसा पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

अनुकूल संयोगों में मुझे राग होगा और प्रतिकूल संयोगों में द्वेष होगा—ऐसा अज्ञानी का अभिप्राय है; इसलिए वह ज्ञान का नहीं, किन्तु राग-द्वेष का ही अभिप्राय है। अनुकूल संयोगों से

मेरा मान और प्रतिकूल संयोगों से अपमान—ऐसा जिसने माना, उस अज्ञानी को मात्र बाह्यदृष्टि होने से राग-द्वेष होते ही रहते हैं। ज्ञानी तो जानते हैं कि मान का प्रसङ्ग हो या अपमान का, किन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ; अनुकूल या प्रतिकूल प्रसङ्ग के समय भी मैं तो 'ज्ञान' ही हूँ; इस प्रकार सर्व प्रसङ्गों में मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ—ऐसी ज्ञानभावना ज्ञानी को वर्तती है और उस भावना के बल से उनके राग-द्वेष का नाश ही होता जाता है; इसलिए उन्हें समाधि / शान्ति होती है।

अब, मान-अपमान सम्बन्धी विकल्प दूर करने का उपाय बतलायेंगे। ●

वनवास के समय....

वनवास के समय सीताजी को बाह्य में राम का वियोग हुआ था, किन्तु अन्तर में आतमराम का वियोग नहीं हुआ था। वनवास के समय भी उन्हें नि:शंकरूप से भान था कि मुझे अपने चिदानन्दस्वभाव का ही आधार है... यह जंगल अथवा सिंह-बाघ की गर्जनाएँ—कोई संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है। ऊपर आकाश है और नीचे धरती! कोई अपना नहीं! तथापि मैं अशरण नहीं हूँ, अन्तर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही मुझे शरणभूत है। राजमहल मुझे शरणभूत थे और यह जंगल अशरण हैं—ऐसा नहीं है; सारा जगत ही मेरे लिये अशरण है, मेरा आत्मा ही मुझे उत्तम-मंगल और शरणभूत है।

कारणशुद्ध पर्याय

[८]

(नियमसार, गाथा ११-१२)

[मंगसिर-दिसम्बर १९५९ अंक १७६ से आगे]

अहो! मुनिया के आत्मा से अमृत झरा है.... अन्तर में 'कारण' के सेवन से सिद्धपदरूपी कार्य को साधते-साधते यह रचना हुई है.... उसमें कारण के प्रति अचिंत्य अह्लाद प्रगट किया है... जिसने अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट किया और आत्मा के आनन्द का किंचित् स्वाद ले लिया, उसे अपने कारण की अचिंत्य महिमा ज्ञात हो गई।—अहो! ऐसे आनन्द का कारण मेरा आत्मा ही है और वही मुझे उपादेय है... जिसके अन्तर में सहजस्वभाव की ऐसी महिमा आ गई, उसके आत्मा में मोक्ष का बीजारोपण हो गया। जिसका महा भाग्य हो, उसे यह बात सुनने को मिलती है... और जिसके अन्तर में यह बात जम गई, उसका तो पूछना ही क्या!! उसका बेड़ा पार हो गया!

हे आत्मार्थी जीवो! अन्तर्मुख होकर अपने सहजस्वभाव को उपादेय करो—ऐसा संतों का उपदेश है।

ज्ञान के प्रकारों में उपादेय ज्ञान कौन-सा है-उसका वर्णन

यह नियमसार की ११-१२ वीं गाथा चल रही है; उसमें, आत्मा उपयोग स्वरूप है; उसके ज्ञान उपयोग के प्रकार कहे, फिर उनमें से कौन से प्रकार किसे होते हैं और वह कहा और पश्चात् उसमें प्रत्यक्ष-परोक्षपने का वर्णन किया।

''तथा विशेष यह है कि उपरोक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निज परमतत्त्व में स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है; तथा वह सहजाान अपने पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्य का परम स्वभाव होने से, सहजज्ञान के सिवा अन्य कुछ उपादेय नहीं है।''

देखो, यह उपादेयतत्त्व का वर्णन! उपादेय क्या है कि जिसके आश्रय से मुक्ति हो—उसकी यह बात है। जड़ देहादि की क्रिया तो उपादेय नहीं है, राग तो उपादेय नहीं है और ज्ञानादिक क्षणिकभाव भी उपादेय नहीं हैं अर्थात् उन भेदों का आश्रय करने योग्य नहीं है, क्योंकि उनका आश्रय करने से राग होता है किन्तु मुक्ति नहीं होती। आत्मा के परम स्वभावरूप जो सहजज्ञान है,

वही उपादेय है, उसके आश्रय से केवलज्ञान और मोक्षदशा हो जाती है, इसलिये वही मोक्ष का मूल है; और वह ज्ञान, आत्मा के परमतत्त्व में सदैव वर्त रहा है। यहाँ तो महा मुनिराज स्पष्ट कहते हैं कि अहो! ऐसे ज्ञान के सिवा अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। इस सहजज्ञान का आश्रय करना ही साक्षात् मोक्ष का मूल है और व्यवहार का-राग का-निमित्त का आश्रय करना वह मोक्ष का किन्तु संसार का कारण है।

यहाँ सहजज्ञान को ही मोक्ष का मूल कारण कहा है, क्योंकि उसमें लीनता से ही मोक्ष होता है। उससे नीचे के जो चार ज्ञान हैं, उन्हें मोक्ष का कारण नहीं कहा क्योंकि उनका तो अभाव होकर केवलज्ञान होता है, इसलिये वे परमार्थतः मोक्ष का कारण नहीं हैं। और केवलज्ञान तो स्वयं मोक्षस्वरूप है; परन्तु साधक को वह केवलज्ञान नहीं होता। सहजज्ञान सदैव पारिणामिकस्वभाव से वर्त रहा है, वह त्रिकाल मोक्षस्वरूप है और उसमें लीन होकर उसे उपादेय करने से मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। इसप्रकार मोक्ष के मूलरूप ऐसा यह सहजज्ञान ही उपादेय है।

वीतरागी मुनिराज उपदेश देते हैं कि हे भव्य! ऐसा सहजज्ञान तेरा परम स्वभाव है; इसलिये अंतर्मुख होकर उसी को तू उपादेय कर। यह सहजज्ञान तेरा पारिणामिकस्वभाव है, वह कभी तुझसे पृथक् नहीं होता। जिसका कभी विरह नहीं है, ऐसा यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का मूल है। केवलज्ञान तो वर्तमान दशा में है नहीं, वह तो प्रगट करना है; साधक को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है, वह परम्परा मोक्ष का कारण है किन्तु वह साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। तो साक्षात् मोक्ष के कारणरूप से कौन-सा ज्ञान विद्यमान है—वह यहाँ बतलाते हैं। पारिणामिकभाव से आत्मा के निज तत्त्व में त्रिकाल लवलीन वर्तता हुआ ऐसा सहजज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है, इसलिये वही उपादेय है। जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार के अनेक पक्षों को जानकर उसमें शुद्ध निश्चय ही उपादेय है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञान के अनेक प्रकार बतलाकर मुनिराज पद्मप्रभ भगवान कहते हैं कि ज्ञान के समस्त प्रकारों में यह परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही उपादेय है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है। ज्ञान के क्षणिकभाव उपादेय नहीं हैं, किन्तु ज्ञान का एक ऐसा सहजभाव है कि जो सदैव सदृशरूप वर्तता है, ध्रुवरूप है, परमस्वभावरूप है; ऐसा परमस्वभाव ही उपादेय है।

इससमय यहाँ ज्ञान का वर्णन चल रहा है, इसलिये उसकी बात की है; किन्तु उस ज्ञान की भाँति श्रद्धा-आनन्दादि सर्व गुणों में भी जो सहज-स्वभावरूप भाव वर्तता है, वही परम उपादेय

है—ऐसा समझना। आत्मा के ज्ञान-दर्शन-वीर्य सुख-चारित्र आदि समस्त गुणों में अपना-अपना सहजभाव एकरूप सदृश परिणति से अनादि अनंत वर्त रहा है, और वह 'वर्तमान वर्तता हुआ सहजभाव' ही उस-उस गुण की पूर्णदशा का देने वाला है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जो सहज आनन्द का वेदन हुआ तथा तेरहवें गुणस्थान में वैसे परिपूर्ण आनन्द का वेदन हुआ, उस आनन्द का देनेवाला कौन? 'आनन्द' का जो सदा एकरूप सहजभाव वर्तता है, वही प्रगट आनन्द का देनेवाला है। आनन्द का जो यह सहजभाव त्रिकाल वर्तता है, वह स्वयं वेदनरूप नहीं है, (शक्तिरूप है।) किन्तु उसके आश्रय से आनन्द का वेदन नवीन प्रगट होता है, इसलिये वह सहजभाव आनन्द का मूल है।

—इसीप्रकार आनन्द की भाँति श्रद्धा आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना चाहिये। आत्मा का ऐसा सहज स्वभाव ही उपादेय है। अहो! यह कोई अद्भुत बात है। **जिसके अंतर में यह सहजस्वभाव की महिमा आ गई, उसके आत्मा में मोक्ष का बीजारोपण हो गया।**

आत्मा में पारिणामिकभाव से स्थित, सहजभाव से सदा वर्तता हुआ ऐसा स्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान, वह मोक्ष का मूल है; वह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है किन्तु उसका आश्रय करने से मोक्षमार्ग तथा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। मतिज्ञान के अथवा केवलज्ञान के समय भी वह सदा एकरूप वर्तता है, उसका परिणमन सदृशरूप है, उसमें हीनाधिकता नहीं होती। परिणमन होने पर भी वी कार्यरूप नहीं है किन्तु त्रैकालिक शक्तिरूप-कारणरूप है। 'परिणमन' कहकर यहाँ उत्पाद-व्यय सूचित नहीं करना है किन्तु उसका प्रतिसमय विद्यमानपना सूचित करना है।

अहो! मुनियों के आत्मा से अमृत झरा है.... यह अचिंत्य अपूर्व बात है... भारतवर्ष के लिये इससमय यह बात बिलकुल नई है... जिसका महा भाग्य हो, उसे यह बात सुनने को मिलती है... और जिसके अन्तर में यह बात जम गई, उसका तो पूछना ही क्या!! उसका तो बेड़ा पार हो गया!

[सार सभा ने महान हर्ष पूर्वक जयजयकार से पूज्य गुरुदेव की इस बात का स्वागत किया... और गद्गद्भक्ति से गुरुदेव का अनन्त उपकार माना।]

यह तो अन्तर के सूक्ष्म रहस्य की बात है.... इसमें दृष्टान्त भी क्या दिया जाये! दृष्टान्त देकर समझाने से स्थूलता हो जाती है, तथापि साधारणरूप में लैंडी पीपल का दृष्टान्त लें—

जिसप्रकार लैंडी पीपल का चरपरा स्वभाव है; उस स्वभाव का चौंसठपुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है; व्यक्तरूप में भले एकपुटी चरपराहट हो अथवा

चौंसठपुटी हो किन्तु चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति तो परिणमित हो ही रही है। पुद्गलों में जो रसगुण है, वह तो सामान्य है, किन्तु लैंडी पीपल में जो चौंसठ पुटी चरपराहट की शक्तिरूप परिणमन है, वह तो एक मुख्यभाव है। उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञता की शक्तिरूप परिणमन तो सदैव चल ही रहा है। यदि वह शक्तिरूप परिणमन न हो तो सर्वज्ञता की व्यक्ति काहे में से होगी? यहाँ, वर्तमान कार्य का आधार भी वर्तमान ही है—ऐसा बतलाना है। व्यक्तरूप में भले मतिज्ञान हो या केवलज्ञान हो, किन्तु सर्वज्ञता की शक्ति तो ज्ञान में परिणमित हो ही रही है। ज्ञानगुण को त्रिकाल सामान्य लेना चाहिये, और उस ज्ञान में सर्वज्ञता के कारणरूप शक्ति वर्तमान में भी वर्त रही है, वह यहाँ बतलाना है। ज्ञान का यह सहजभाव सदा परिणमनरूप से वर्त ही रहा है। पर्याय के उत्पाद-व्ययरूप जो परिणमन है—उसकी यह बात नहीं समझना चाहिये, किन्तु ज्ञान का सहजभाव जो सदा सदृशरूप से वर्तता है, उसकी यह बात है।

भव्य जीवों को यह सहजभाव ही उपादेय है; आत्मा के परम पारिणामिकस्वभावरूप ऐसे इस सहजज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ वास्तव में उपादेय नहीं है। यदि केवलज्ञानपर्याय को उपादेय करने जाये तो वह पर्याय वर्तमान में स्वयं को तो है नहीं, तो फिर दृष्टि को कहाँ स्थिर करेगा? केवलज्ञान का जो आधार है, ऐसा वर्तमान सहजस्वभावरूप उपयोग कि जो इस समय भी एकरूप परिपूर्ण सामर्थ्य सहित वर्त रहा है। उस पर दृष्टि लगाना योग्य है; उस पर दृष्टि स्थिर करने से साधकदशा होकर केवलज्ञान विकसित हो जाता है। इसप्रकार यह सहजज्ञान ही मोक्ष का मूल होने से उपादेय है।

देखो, यह मोक्ष का मूल!

शरीरादि तो जड़ हैं; पुण्य-पाप विकार है, और मति-श्रुतज्ञान अपूर्ण हैं; उन किन्हीं में ऐसी शक्ति नहीं है कि मोक्षपद दे सकें, इसलिये वे कोई मोक्ष का मूल नहीं हैं। अब केवलज्ञान पर्याय के ऊपर दृष्टि लगाये तो स्वयं को वह पर्याय तो है नहीं, इसलिये 'केवलज्ञान नहीं है और प्रगट करूँ'—ऐसी आकुलता होती है; चूँकि आकुलता तो केवलज्ञान को रोकनेवाली है; इसलिये केवलज्ञानपर्याय पर दृष्टि लगाना भी केवलज्ञान का उपाय नहीं है अर्थात् वह भी मोक्ष का मूल नहीं है। तो फिर कहाँ दृष्टि स्थिर की जाये? तेरे ज्ञान के ध्रुव आधाररूप सहजज्ञानस्वभाव इससमय भी तुझमें वर्त रहा है और वही मोक्ष का मूल है; इसलिये उसी पर दृष्टि लगा!—उस पर दृष्टि लगाने से तेरा केवलज्ञान विकसित हो जायेगा।

अहो! जो इसे समझ ले, उसकी बुद्धि अन्तर्स्वभावोन्मुख हो जाती है... फिर उसकी बुद्धि में अन्तर्स्वभाव के अतिरिक्त जड़ की क्रिया का, राग का या अपूर्णदशा का आदर नहीं रहता। जिसने ऐसे अन्तर्स्वरूप को ही उपादेयरूप से स्वीकार किया, वह केवलज्ञान के पथ पर आ गया है... अब अल्पकाल में वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा।

जड़ की तथा विकार की बात तो कहीं दूर रह गई! किन्तु सम्यक् मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का कारण कहना भी व्यवहार भी है। परमार्थतः तो त्रिकाली कारणस्वभावज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है; और वही मोक्ष का मूल होने से परम उपादेय है। सम्यग्दर्शन को मोक्ष का मूल कहा जाता है, वह भी पर्याय अपेक्षा से व्यवहार से है; एक बार भी जिसने सम्यक्दर्शन प्रगट कर लिया, वह जीव अल्पकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा।—इसप्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा समझाने के लिये उसे मोक्ष का मूल कहा जाता है। किन्तु वह सम्यग्दर्शन कब होता है?—तो कहते हैं आत्मा के सहजज्ञानरूप परमस्वभाव को उपादेय करने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है, इसलिये वह परमस्वभाव ही मोक्ष का मूल है—ऐसा जानना; तथा मोक्ष की भाँति सम्यक्दर्शनादि का मूल भी वही है—ऐसा समझना।

देखो, यह मूल कारण की बात! शास्त्रों में व्यवहार कारणों के अनेक कथन आते हैं, वहाँ उनके आश्रय से ही जो लाभ होना मानता हो, उसके पांडित्य पर पानी फिर जाये—ऐसी यह बात है। जहाँ अन्तर के ज्ञायकतत्त्व पर दृष्टि गई, वहाँ समस्त बाह्य कारणों पर पानी फिर जाता है—अर्थात् कोई भी बाह्य कारण अपने कारणरूप दिखाई नहीं देता। तिर्यंच-मेंढ़क का जीव हो या आठ वर्ष के बालक का जीव हो; अन्तर्स्वरूप के अवलम्बन से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उसे ऐसा भान होता है कि अहो! अन्तरंग में यह मेरा सहज स्वभाव ही मेरे सम्यग्दर्शनादि का कारण है और यही मुझे सर्वथा उपादेय है, अन्य कोई कारण मुझे उपादेय नहीं है।

अज्ञानी जीव कारण-कारण करते हैं; 'निमित्त कारण से होात है और व्यवहार कारण से होता है'—ऐसा मानकर पराश्रयबुद्धि से वे भव-भव में भटकते हैं। यहाँ वीतरागी सन्तों ने अन्तर का ध्रुवकारण बतलाकर समस्त बाह्य कारणों के अवलम्बन को उड़ा दिया है और अन्तर में मोक्ष का मूल कारण बतलाकर उसका अवलम्बन कराया है।

अहो! अद्भुत बात कही है.... **अन्तर में ऐसे कारण के सेवन से सिद्धपद को साधते-साधते यह रचना हुई है... 'अहो! यह मेरे सिद्धपद का कारण!'—इसप्रकार कारण के प्रति**

अचिन्त्य आह्लाद प्रगट किया है। उसके अवलम्बन से कार्य सध रहा है। 'कार्य' के बिना 'कारण' की महिमा ज्ञात नहीं होती। जिसप्रकार लैंडी पीपल की एकपुटी चरपराहट का स्वाद चख ले तो मालूम हो कि ऐसी चौंसठपुटी (परिपूर्ण) चरपराहट प्रगट होने की शक्ति भी इस लैंडी पीपल में भरी है; उसीप्रकार जिसने अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट किया और आत्मा के आनन्द का किंचित् स्वाद चखा, वहाँ उसे उसके कारण की अचिन्त्य महिमा ज्ञात हो गई कि अहो! ऐसे परिपूर्ण आनन्द का कारण मेरा आत्मा ही है... मेरे आत्मा में ऐसे आनन्द का कारण सदैव वर्त रहा है... और यही मुझे उपादेय है।

मोक्ष का मूल ऐसा सहजज्ञान त्रिकाल पारिणामिकभावरूप स्वभाववाला है; केवलज्ञान क्षायिकभावरूप है, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभावरूप हैं, और यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान तो पारिणामिकभावरूप है। तथा वह भव्य का परम स्वभाव होने से वही उपादेय है। भव्य को उसका भान होता है, इसलिये 'भव्य का परम स्वभाव' कहा है। अभव्य को ऐसे स्वभाव का भान नहीं होता। भव्य का परमस्वभाव होने से इस सहज ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी उपादेय नहीं है। जिसप्रकार मेरु पर्वत के नीचे सुवर्ण है लेकिन वह किस काम का? उसीप्रकार अभव्य को भी ऐसा स्वभाव तो है किन्तु भान बिना वह किस काम का? 'कारण' तो है किन्तु मिथ्यादृष्टि उसका अवलम्बन लेकर कार्य प्रगट नहीं करता। कारण के अवलम्बन से कार्य होता है। सम्यग्दृष्टि को अपने परमपारिणामिकस्वभावरूप जो सहजज्ञान है, वही उपादेय है; इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि अन्य कुछ उपादेय नहीं मानते। जो जीव परम आनन्द के अभिलाषी हों, जो आत्मार्थी हों... जो मोक्षार्थी हों... वे अपने एक परम स्वभाव को ही उपादेय करो... उस अन्तरस्वभाव की खान में से ही सम्यग्दर्शनादि रत्न निकलते हैं, इसलिये वही उपादेय है।

ज्ञान-आनन्द के सहजविलासरूप इस परमार्थस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ धर्मी को उपादेय नहीं है।

इसप्रकार ज्ञान के प्रकारों में नित्य परमस्वभावरूप सहजज्ञान को उपादेय बतलाया। अब, 'उस सहजज्ञान के विलासरूप से ही आत्मा को भाना चाहिये'—ऐसा कहेंगे।

(-इन गाथाओं के जो छह विषय कहे हैं, उनमें से चौथा विषय यहाँ समाप्त हुआ।)

आत्मा को कैसा भाना चाहिये—उसका वर्णन

आत्मा के परमस्वभावरूप सहजज्ञान की परम महिमा बतलाकर, तथा वही उपादेय है—ऐसा समझकर अब कहते हैं कि—

'इस सहजचिद्विलासरूप से... स्वभाव-अनंतचतुष्टय से जो सनाथ है—ऐसे इस आत्मा को भाना चाहिये।'

आत्मा के स्वभाव-अनंतचतुष्टय कैसे हैं ? सो कहते हैं—

(१) सहज परम वीतराग **सुखामृत**

(२) अप्रतिहत निरावरण परम **चित्शक्ति का रूप**

(३) सदा अंतर्मुख ऐसा स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परम **चारित्र,** और

(४) त्रिकाल अविच्छिन्न होने से निकल ऐसी परम चैतन्यरूप की **श्रद्धा**।

—ऐसे स्वभाव-अनंतचतुष्टय से आत्मा सनाथ है, और अनाथ ऐसी मुक्ति सुन्दरी का नाथ है। ऐसे आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाना चाहिये।

यहाँ जो सुख, वीर्य, चारित्र और श्रद्धा-ऐसे चतुष्टय लिये हैं, वह त्रिकाल की बात है। आत्मा को 'सहज चिद्विलासरूप' कहकर ज्ञान की बात तो पहले ही ली है, और स्वभाव-अनंतचतुष्टय में—

(१) आनन्द को सदा वीतराग कहा,

(२) चित्शक्तिरूप बल को निरावरण अप्रतिहत कहा,

(३) चारित्र को सदा अंतर्मुख स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप कहा, और

(४) श्रद्धा को त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से सदा निकट बतलाया।

—ऐसे स्वभाव-चतुष्टय से जो सनाथ है और मुक्तिसुन्दरी का नाथ है—ऐसे भगवान आत्मा को सहजचैतन्यविलासरूप से भाना चाहिये। यह 'भावना' सो मोक्षमार्ग है; 'भावना' कहने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों उसमें आ जाते हैं और ऐसी भावना से ही भव का अभाव होता है।

देखो, यह मोक्ष की भावना ! जिसे आत्मा की मोक्षदशा प्रगट करना हो, उसे ऐसे आत्मा को ही भाना चाहिये। जड़ की क्रिया के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये; राग के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये; तथा अल्पज्ञता के विलासरूप से आत्मा को नहीं भाना

चाहिये; किन्तु अनंतचतुष्टयसहित सहजज्ञान के विलासरूप से सदा आत्मा को भाना चाहिये। सहजज्ञान के विलासस्वरूप आत्मा सदा कारण-चतुष्टय सहित विराजमान है, उसकी भावना करने से कार्यचतुष्टय प्रगट होता है। कारण की भावना से कार्य होता है। यहाँ कारणरूप जो सहज ज्ञान, उसके विलास के साथ स्वभावचतुष्टय को मिलाकर उस चतुष्टय सहित आत्मा को भावना करने की कहा है, उसका फल मुक्ति है।

देखो, यह सहज चैतन्य का विलास! इसी में आत्मा का सच्चा विलास है; इस विलास में ही आत्मा का आनन्द है। बाह्य विलास में तो दु:ख है और आत्मा के विलास में आनन्द है। चैतन्यमूर्ति आत्मा का यह त्रिकाली विलास अमृतमय है, आनन्दमय है, उसी में आत्मा की मौज है; इसलिये उसी की भावना भाना चाहिये—ऐसा संतों का उपदेश है।

- ✦ जड़ का विलास भिन्न है,
- ✦ विकार का विलास दु:खरूप है, और
- ✦ पर्याय का विलास क्षणिक है।

आत्मा के सहज चैतन्य का विलास आनन्दमय है; ध्रुव है; सदा अपने से अभिन्न है; इसलिये उस विलासरूप से आत्मा की भावना भाना चाहिये। परम पारिणामिकभाव से त्रिकाल विलसित आत्मा ही सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसा जो चैतन्य का सहज विलास है, उसे कभी आवरण नहीं है, उनमें कोई बाधा नहीं है, पीड़ा नहीं है, दु:ख नहीं है; वह सदा निरावरण है, निर्बाध है, अविच्छिन्न धारारूप है, अमृतमय है, आनन्दमय है, वीतरागस्वरूप है-अहो! ऐसे आत्मा की भावना ही धर्मात्मा का कर्तव्य है।

ओहो! इस भगवान के शास्त्र में कैसी अलौकिक बात भरी है। देखो, यह भागवत शास्त्र है। भीतर ध्रुवस्वभाव पूर्ण आनन्द से सदा भरपूर है, उसी पर शास्त्रकार संतों ने दृष्टि लगाई है। जिसने ऐसे त्रिकाली परम सत् का आदर किया, उसे स्वप्न में भी असत् का (रागादि व्यवहार का) आदर नहीं होता।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, वह पर्याय है, वह निश्चय-मोक्षमार्ग है; लेकिन वह कैसे प्रगट होता है? आत्मस्वभाव के अवलम्बन से वह प्रगट होता है; इसलिये आत्मा का परम स्वभाव ही मोक्ष का निश्चयकारण है, और निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, वह मोक्ष का व्यवहार कारण है।

आत्मा सहजज्ञान के विलासरूप है; उसका विलास सदा आनन्दरूप है। सम्यग्दर्शन होने पर या केवलज्ञान होने पर जो आनन्द का वेदन हुआ, वह आनन्द कहाँ से आया? परम वीतराग आनन्द के साथ आत्मा सदा एकमेक है, उसी में से आनन्द प्रगट हुआ है। इसीप्रकार परमचैतन्यशक्तिरूप वीर्य भी आत्मा में अप्रतिहतरूप से त्रिकाल निरावरण है, वही पूर्ण आत्मबल का देनेवाला है। और यथाख्यातचारित्र का देनेवाला ऐसा परमचारित्र आत्मा में सदा अंतर्मुखरूप से वर्त ही रहा है तथा 'श्रद्धा' भी त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से आत्मा में सदा निकट विद्यमान है—उसका कभी विरह नहीं है; वह निकटवर्ती श्रद्धाशक्ति ही सम्यक्त्व की देनेवाली है। इसप्रकार भगवान आत्मा अनन्तचतुष्टय का नाथ है। उस अनन्त चतुष्टय के नाथ को सहजज्ञानरूप से विलसित भाना चाहिये। ऐसे स्वभाव की भावना, वह मोक्षमार्ग है और उसका फल मोक्ष है।

इसप्रकार अनन्तचतुष्टय के नाथ भगवान आत्मा को सहजज्ञान के विलासरूप से भाने का संतों का उपदेश है। अब, 'यह उपेदश कैसा है'—सो कहेंगे।

(– इन गाथाओं के छह विषयों में से पाँचवाँ विषय यहाँ समाप्त हुआ।) *[क्रमशः]*

चाँदखेड़ी तीर्थक्षेत्र में गुरुदेव का प्रवचन

दक्षिण के तीर्थधामों की यात्रा करके लौटते समय पूज्य गुरुदेव संघसहित वैशाख कृष्णा पंचमी के दिन चाँदखेड़ी पधारे थे। यहाँ नदी किनारे रमणीक वातावरण में एक विशाल जिनमन्दिर है; मन्दिर के भोंयरे में आदिनाथ भगवान की सवा छह फुट ऊँची विशाल पद्मासन प्रतिमाजी विराजमान हैं, तथा महावीरादि भगवन्तों की प्राचीन मूर्तियाँ भी हैं। उन प्राचीन जिन बिम्बों की मुद्रा अति उपशांत एवं भाववाही है। तदुपरान्त विदेहीनाथ श्री सीमंधर भगवान के समवसरण की रचना तथा उसमें उपस्थित श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की भव्य प्रतिमा है। गुरुदेव के आगमन पर आसपास के अनेक ग्रामों से सैकड़ों लोग दर्शनार्थ आये थे।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप अनादि-अनंत है; वह शरीर से भिन्न है। उसकी श्रद्धा और ज्ञान करके उसकी स्वानुभूति द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना वह चारगति के भ्रमण से छूटने का मार्ग है।

'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'

स्वानुभूति से प्रकाशमान ऐसा जो शुद्ध आत्मा; उसे नमस्कार हो... अनादि से विकार में नमता था अर्थात् उस ओर ढलता-परिणमित होता था, उसके बदले अब स्वसन्मुख होकर चैतन्यसत्ता का स्वीकार करके उसमें नमा अर्थात् स्वभाव की ओर ढला, स्वभाव में परिणमित हुआ, वह मोक्षमार्ग है, वह अपूर्व मंगल है।

अनादिकाल से आत्मा चारगति में परिभ्रमण कर रहा है। किसी दूसरे ने उसे परिभ्रमण नहीं कराया, किन्तु अपनी ही भूल से भटक रहा है। चार गति के दुःखों से कैसे छुटकारा हो, उसकी यह बात है। दुःख कोई स्वाभाविक भाव नहीं है, किन्तु आत्मा के आनन्दस्वभाव का विभाव, वह दुःख है। वह विभाव जीव ने स्वयं किया है। जड़ में सुख नहीं है, उसीप्रकार उसके विभावरूप दुःख भी नहीं है। जीव ने अज्ञानरूप से अपने विभाव से दुःख उत्पन्न किया है। अपनी ही भूल से स्वयं दुःखी होकर दूसरों पर दोषारोपण करना, अथवा कर्मों ने मुझे दुःखी कर दिया ऐसा मानना वह अनीति है। यदि जैन शासन को समझ ले तो ऐसी अनीति की संभावना न रहे। आचार्यभगवान कहते हैं कि अरे जीव! राग-द्वेष-मोह द्वारा मलिनचित्त से ही तू संसारभ्रमण कर रहा है। तेरा चिदानन्दस्वभाव

पवित्र है; उस राग-द्वेष-मोह रहित स्वभाव का तूने कभी लक्ष ही नहीं किया। एकबार चिदानन्दस्वभाव को लक्ष में लेकर उसका चिन्तन कर, तो तुझे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा। जीव ने कभी यथार्थरूप से—रुचिपूर्वक—चिदानन्दस्वरूप की बात भी नहीं सुनी है... सुनने का अवसर मिला, तब रुचि नहीं की, किन्तु काम-भोग-बंधन की ही रुचि रखी है। चैतन्यस्वरूप की रुचि करे, एकबार भी उसका श्रवण करे तो अपूर्व भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

दिव्यध्वनिदातार भगवान तीर्थंकर परमात्मा इस समय महा-विदेहक्षेत्र में साक्षात् विराज रहे हैं। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे और भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। (यहाँ भी मन्दिर में उसका दृश्य है और हमारे यहाँ सोनगढ़ में भी उनके समवसरण की रचना है।) विदेहक्षेत्र से लौटकर उन आचार्यदेव ने समयसार आदि शास्त्रों की रचना की है; उसमें कहते हैं कि—

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य॥४॥

जीवों ने अनादि से राग और उसके फल की रुचि की है तथा उसी का अनुभव किया है, किन्तु पर से भिन्न और स्वभाव से एकत्वरूप ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचि या अनुभव कभी नहीं किया। आचार्य भगवान समयसार में एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप बतलाकर उसके श्रद्धा-ज्ञान-आचरण का उपदेश देते हैं।

अरे जीव! तेरा ज्ञायकस्वभाव तो पवित्र है और रागादिभाव तो मलिन हैं; इसलिये स्वभाव का उल्लास लाकर उसका श्रवण कर.... राग और राग के फल की रुचि छोड़। सर्वज्ञता की शक्ति तेरे ज्ञायक-स्वभाव में भरी है, राग में ऐसी शक्ति नहीं है। राग के सेवन से सर्वज्ञता या अतीन्द्रियआनन्द प्रगट नहीं होगा; ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके सेवन से ही सर्वज्ञता और अतीन्द्रिआनन्द प्रगट होगा। जिसप्रकार लैंडी पीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट की शक्ति होने से उसी में से वह प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव में शक्ति है, उसी में से सर्वज्ञता और पूर्णानन्द प्रगट होते हैं, कहीं बाहर से नहीं आते।

शुभराग करते-करते मानों उससे कुछ लाभ हो जायेगा;—इसप्रकार शुभराग की रुचि में रंगे हुए जीव का चित्त मलिन है; राग की रुचि से रंगा हुआ उसका मलिन चित्त कर्म बंधन का कारण है और राग से पार चिदानन्दस्वरूप की रुचि का रंग लगाकर चित्त को चैतन्यस्वरूप में

लगाना, वह कर्म-बंधन से छूटने का उपाय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है; 'चैतन्यस्वरूप में चित्त को लगाना' उसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है। चैतन्य में चित्त कब लगता है ? कि राग की रुचि छोड़कर चैतन्यस्वरूप की रुचि करे तब। जो जीव, राग से लाभ मानता हो, वह उसकी रुचि क्यों छोड़ेगा ? और जिसकी रुचि से चित्त रँगा हो, उससे वह क्यों पृथक् होगा ? इसलिये राग की रुचि से जिसका चित्त मलिन है, वह जीव राग से अपने चित्त को हटाकर उसे चैतन्यस्वरूप में नहीं लगाता; वह जीव मलिन चित्तवाला वर्तता हुआ कर्मों से बँधता है। और जो जीव पवित्र चैतन्यस्वरूप में चित्त को लगाकर राग से विमुख वर्तता है, वह नि:सन्देहरूप से कर्मों से छूटता है। इसप्रकार उपयोग की राग में लीनता, वह बंध का कारण है और स्वभाव में लीनता, वह मोक्ष का कारण है।

आत्मपंथ, वह मोक्षमार्ग है और मनपंथ, वह बंधमार्ग है; उपयोग की आत्मस्वभाव में लीनता होने पर मोक्षमार्ग होता है और मन के सम्बन्ध में लीनता होने पर रागद्वेष की उत्पत्ति होती है, वह बंध का कारण है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे, मन का मार्ग तो दु:ख देनेवाला है और चैतन्यमार्ग ही अमृतस्वरूप मोक्षदाता है। अरे मन! मृगजल की छाया समान विषयसुखों से तू विमुख हो... उनसे विरक्त होकर अपने उपयोग को चैतन्य में लगा। शुभ या अशुभ दोनों मन का पंथ हैं; चैतन्य के पंथ में तो वीतरागता है और वीतरागता ही मोक्षमार्ग है।

आचार्य भगवान चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने का उपदेश देते हैं। जिसप्रकार कोई पुरुष आम्र वृक्ष के नीचे आया और उसकी छाया में बैठकर संतुष्ट हो गया। वहाँ कोई दूसरा बुद्धिमान पुरुष उसे समझाये कि भाई! तू सिर्फ वृक्ष की छाया से ही संतुष्ट न हो किन्तु इसके फलों का स्वाद ले! उसी प्रकार सुख की छाया समान (सुखाभास) ऐसे शुभ में जो संतुष्ट है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू राग से संतुष्ट न हो, शुभ के फल में सच्चा सुख नहीं है; इसलिये अमृतवृक्ष समान चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले। उससे नि:सन्देह तेरे जन्म-मरण का नाश हो जायेगा। यही जन्म-मरण को मिटाने की जड़ीबूटी है।

नया प्रकाशन

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

द्वितीय भाग का

दूसरा संस्करण मूल्य २) रु०

प्रगट होने में विलंब हुआ है।

एक सप्ताह बाद तैयार हो जायगा।

गुजराती भाषा में 'द्रव्यसंग्रह' (नई आवृत्ति)

तत्त्वार्थ सूत्र के समान द्रव्यसंग्रह भी प्राय: प्रत्येक जैन पाठशाला में पढ़ाया जाता है, आज तक अनेकों आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं किन्तु सर्व विद्यार्थी जिज्ञासुओं को अभ्यास करने में उपयोगी हो सके, जैनेतर बन्धु भी जैनधर्म की विशेषता समझ सकें ऐसी शैली से इसका नया संस्करण तैयार हुआ है। साथ में लक्षण तथा भेद संग्रह तथा लघु द्रव्यसंग्रह भी बढ़ा दिया है। बढ़िया कागज पृ० संख्या २२० मूल्य ६० नये पैसे, पोस्टेज २० नये पैसे अलग।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

धन्य वह दशा! धन्य वह जीवन!!

देखो भाई, आठ-आठ वर्ष के बालक भी चैतन्यतत्त्व की बात समझ सकते हैं तथा चैतन्य को अपना ध्येय बनाकर उसमें लीनता से परमात्मा हो जाते हैं। छोटी-छोटी उम्र के सुन्दर राजकुमार भगवान की सभा में जाते हैं और भगवान की वाणी में चिदानन्दतत्त्व की बात सुनते ही उनके अंतर में उतर जाती है कि—अहो! ऐसा हमारा चिदानन्दतत्त्व! उसी को ध्येय बनाकर अब तो उसी में स्थिर होंगे, अब हम इस संसार में लौटकर नहीं आयेंगे।—इसप्रकार वैराग्य प्राप्त करके माता के निकट आकर कहते हैं कि—हे माता! हमें आज्ञा दो... अब हम मुनि होकर चैतन्य के पूर्णानन्द की साधना करेंगे। इस संसार में तुम्हीं हमारी अन्तिम माता हो! अब हम दूसरी माता नहीं बनायेंगे।....हमारा मन इस संसार से विरक्त हो गया है। हे माता! अब तो चैतन्य के आनन्द में लीन होकर हम अपने सिद्धपद की साधना करेंगे.... पुनः इस संसार में नहीं आयेंगे। इसप्रकार माता से आज्ञा लेकर, जिनके रोम-रोम में वैराग्य की छाया छा गई है, ऐसे वे छोटे-से राजकुमार मुनि बन जाते हैं।—अहा, धन्य है वह दृश्य!—मानों छोटे-से सिद्ध भगवान हों! धन्य वह दशा! धन्य वह जीवन!

✣ ✣ ✣

—ऐसी दशा प्रगट करने के लिये कैसा भेदज्ञान होना चाहिये?

—यह बात आचार्यदेव ने समयसार में समझाई है... तत्सम्बन्धी प्रवचनों का एक लेख इस अंक में दिया जा रहा है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।